

# सरकारी स्कूल : व्यवस्था की जड़ता

## और शिक्षकों की उदासीन अभिवृत्ति

ऋषभ कुमार मिश्र

**स**रकारी स्कूलों की व्यथा-कथा शिक्षा के अध्येताओं का प्रिय विषय है। इस तरह के अध्ययनों और आख्यानों में प्रायः किसी न किसी तत्व को खोजकर ऐसा स्थापित किया जाता है कि मानो वह विटामिन 'ए' हो जिसकी कमी से शिक्षा व्यवस्था को रतौंधी हो गई हो। काबिलेगौर है कि इस विटामिन 'ए' को गुणवत्ता या अच्छी शिक्षा की संज्ञा देते हैं और अंततः राज्य के जिम्मे इस व्यवस्था के संचालन और मूल्यांकन का दायित्व सौंप देते हैं। राज्य बड़े करीने से व्यापक स्तर पर अपनी भूमिका के निर्वहन की तैयारी करता है। उसे प्रचारित करता है। ढांचागत संरचना का विकास, शिक्षकों की बहाली, वजीफा, मूल्यांकन, दायित्व निर्वहन न करने वालों को सजा देने आदि का काम करके राज्य सिद्ध करता है कि शिक्षा की चिंता उसकी प्राथमिकता सूची में है। यह रूख आलोचना या सराहना का माध्यम बनता है। राज्य के कर्मचारी की भूमिका में शिक्षक भी अपने दायित्व निर्वहन के पक्ष में पूरे आंकड़े देते हैं। उनके आख्यान में राज्य द्वारा सुविधाओं का न मिलना, समुदाय से सहयोग का अभाव, सेवा शर्तों में भेदभाव आदि का उल्लेख होता है। बावजूद इसके वे भारतीय समाज के चिरपरिचित रूपक 'गुरु' के भार से खुद को लदा हुआ मानते हैं और अंततः सिद्ध करते हैं कि दी गई परिस्थितियों में सर्वोत्तम निर्णय और समस्या समाधान द्वारा वे सार्थक प्रयास कर रहे हैं। जब इस चित्र को अलग-अलग भागीदारों और हित चिंतकों की निगाह से देखते हैं कि तो कोई न कोई कमजोर कड़ी मिल जाती है जिसे अच्छी शिक्षा के अभाव के लिए जिम्मेदार ठहराया जाता है। इसे मजबूत करने के लिए सुझावों का लंबा पुलिंदा तैयार किया जा सकता है। असल सवाल जो छूट जाता है वह यह है कि क्या अच्छी शिक्षा की केवल मात्रात्मक और यांत्रिक शर्तें- एक चुस्त-दुरूस्त व्यवस्था, प्रशिक्षित शिक्षक, बच्चों की संतुलित संख्या, उन्हें पढ़ाई-लिखाई के जरूरी साधन, नियमित कक्षाएं आदि क्या शिक्षा के उद्देश्यों को पूर्ण कर रहे हैं? यहां रेखांकित करना आवश्यक है कि शिक्षा के उद्देश्यों की विवेचना करना और उन्हें कार्यरूप देना दो अलग-अलग धाराएं हैं। कोई भी शिक्षित वयस्क शिक्षा के उद्देश्यों की चर्चा करते हुए नागरिक, मानव निर्माण, चरित्र, जीविका, सामर्थ्य, कुशलता आदि का उल्लेख करता है लेकिन इनके लिए हम क्या करते हैं? कैसे करते हैं? जिसके साथ करते हैं उनके सोचने और करने के तरीकों को शिक्षा कैसे प्रभावित करती है? स्कूल विद्यार्थियों के अनुभवों, दृष्टियों और रहने के ढंग को एक अलग और अपरिचित सांचे में ढालता है या उन्हें विचारपूर्वक स्थानीय संदर्भों के साथ सहअस्तित्व और शाश्वत विकास की ओर ले जाता है जैसे सवाल अधिक मौजू हैं। इनका आकलन समय के वृहद् पैमाने पर होता है। इस कारण हम इन्हें अल्पकाल में नहीं देख पाते हैं लेकिन शिक्षित वयस्कों की समाज, राजनीति और अर्थव्यवस्था में भूमिकाओं को देखते हुए विश्वास करते हैं कि शिक्षा की व्यवस्था अपने उद्देश्यों को साकार करती है। इन

उद्देश्यों के 'साकार' होने का एक महत्वपूर्ण सवाल है कि कैसे शिक्षा व्यवस्था अपने भागीदारों के रोजमर्रा के जीवन को जीवंत करती है? कैसे उन्हें बौद्धिक बनाने की प्रक्रिया में उनकी स्वाभाविक सरसता को बनाए रखती है? इस लेख में कुछ सरकारी विद्यालयों के अवलोकन के आधार पर इस समस्या को समझने की कोशिश की गई है।

हाल ही में एक कस्बाई इलाके के कुछ सरकारी स्कूलों के अवलोकनों का मौका मिला। लेखक पिछले तीन महीनों में सप्ताह में एक दिन सेवापूर्व शिक्षकों की मेंटॉरिंग के लिए इन स्कूलों में जाया करता था। इस दौरान तीन स्कूलों में अवलोकन किया गया। कुल अवलोकन दिवसों की संख्या 20 रही है। स्कूल के कार्यदिवसों में वहां उपस्थित रहकर मैंने स्कूल की दिनचर्या, कक्षा के भीतर और बाहर विद्यार्थियों और शिक्षकों की अन्तःक्रिया, शिक्षकों की आपसी अन्तःक्रिया आदि का अवलोकन किया। इन स्कूलों में अच्छी शिक्षा के लिए राज्य के सभी दाय उपस्थित थे। स्कूल का भवन, कक्षाएं, खेल का मैदान, उद्यान सब व्यवस्थित थे। शिक्षकों की भी नियुक्ति थी। उनकी उपस्थिति, कक्षा शिक्षण और उनके द्वारा किए जा रहे कार्यों का दस्तावेजीकरण भी चाक-चौबंद था। कक्षा में विद्यार्थियों की संख्या भी अधिक नहीं थी। किसी भी सामान्य स्कूल की तरह इन स्कूलों में सब कुछ हो रहा था। प्रार्थना, घंटियां, दोपहर का खाना, खेल की कक्षाएं सब कुछ था। लेकिन एक स्कूल को जीवंत बनाने वाला रोमांच या उत्साह नदारद था। पूरे विद्यालय में एकरसता फैली हुयी थी। घंटी बजती थी, कक्षाएं होती थी। कक्षाओं में शिक्षकों की उपस्थिति शत-प्रतिशत रहती थी। विद्यार्थी भी लगभग उपस्थित रहते थे। वार्षिक, छमाही और मासिक मूल्यांकन रचनात्मक और योगात्मक दोनों होते थे। कक्षा की दीवारें सेवापूर्व शिक्षकों द्वारा बनाए पोस्टरों से सजी थीं। कक्षा शिक्षण में मौन को अनुशासन का पैमाना माना गया था। जिन शिक्षकों के हाव-भाव और हनक से बच्चे खौफ खाते थे उन्हें ही लंच और खेल की घंटी में अनुशासन का जिम्मा सौंपा गया था। इस सारे माहौल के बीच जैसे ही कक्षाओं के बीच अंतराल होता या अवकाश होता तो लगता कि स्कूल जीवंत हो गए हैं। इन स्कूलों को देखकर लगता है कि यहां अनुबंधन और समझौते का ऐसा वातावरण है जहां बच्चे स्कूल जा रहे हैं शिक्षक पढ़ा रहे हैं लेकिन इस बात पर कोई ध्यान नहीं है कि उनके बीच आपसी रिश्ता क्या है? वे क्या सीख रहे हैं? क्यों सीख रहे हैं? सीखने और परीक्षा के अलावा बच्चों, अध्यापकों और स्कूलों के बीच रिश्ता क्या है? इस माहौल में शिक्षक, बच्चे और कर्मचारी क्या कर रहे हैं? क्यों कर रहे हैं? कैसे किसी एक का निर्णय दूसरे को प्रभावित कर रहा है? इससे सभी अपरिचित थे। ऐसे हालात में भी पढ़ाई हो रही है लेकिन उसमें उत्सुकता, जिज्ञासा, सवाल आदि का अभाव था। ऐसे स्कूलों में बच्चों का होना घड़ी की सूइयों को देखकर समय बिताना बन गया था। इस माहौल से किसी को भी असंतुष्ट नहीं थी। शिक्षक संतुष्ट थे कि 'सब कुछ ठीक चल रहा है'। शिक्षकगण 'ठीक न होने' से अभिप्राय विद्यार्थियों के फेल होने, शिक्षकों के बीच आपसी रिश्ते खराब होने, प्रिंसिपल और शिक्षकों के बीच संबंध ठीक न होने के रूप में बताते हैं। विद्यार्थी भी संतुष्ट हैं। वे बातचीत के दौरान साझा करते हैं कि 'यहां पढ़ाई का टेंशन नहीं है'। 'टेंशन होने' के बारे में विद्यार्थी बताते हैं क्लास वर्क, होम वर्क का बोझ, कक्षा में पिटाई, स्कूल में उनके व्यवहार के बारे में माता-पिता से बातचीत जैसी परिस्थितियां टेंशन पैदा करती है। इनके अभाव में वे स्कूल की सराहना करते हैं। इन स्कूलों के अभिभावक ज्यादातर किसान, मजदूर, सफाई कर्मी, छोटे व्यापारी हैं। वे इस बात से संतुष्ट हैं कि उनके बच्चे रोज स्कूल जा रहे हैं और कुछ न कुछ सीख रहे हैं। इन सब 'संतुष्टियों' ने स्कूल को जड़ बना दिया है। इस व्यवस्था में जो जहां है वह वहां गति कर रहा है लेकिन परस्पर असंबद्धता के कारण उनकी गति सृजन-स्वर नहीं पैदा कर रही है। यहां का सुर बेसुरा है जिसकी जिम्मेदारी लेने को कोई तैयार नहीं है।

शिक्षा के शोध कार्यों को देखें तो ऐसे वातावरण को 'सरकारी' स्कूल से जोड़ दिया गया है। 'सरकारी स्कूल' मुहावरे को इसी अर्थ में असफलता का पर्याय बना दिया गया है। जबकि सच्चाई यह है कि इन स्कूलों में वे बच्चे और उनके

परिवार असफल घोषित किए जा रहे हैं जो सरकारी स्कूलों में जाते हैं। यदि सरकारी स्कूलों के अध्यापकों का मूल्यांकन व्यक्तिगत योग्यताओं जैसे- अकादमिक योग्यता, संप्रेषण कुशलता, सूचना प्रौद्योगिकी का ज्ञान, समसामयिक घटनाओं की जानकारी आदि के आधार पर हो तो वे उत्कृष्ट होंगे। जैसे ही आप उनसे सवाल पूछेंगे कि ऐसे प्रतिभाशाली और योग्य अध्यापकों के समूह ने विद्यालय के लिए क्या किया? सब अपने-अपने कैरियर और व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं के आधार पर अपनी सफलताएं गिना देंगे। लेकिन उनकी सफलताएं क्या बच्चों की जिंदगी में कोई बदलाव ला रही हैं? उन्हें आगे बढ़ने के लिए अभिप्रेरित कर रही हैं? नहीं। ऐसे विद्यालयों के अधिकांश शिक्षक 'नौकरी' कर रहे हैं। इस विश्वास के साथ वे सरकारी कार्यालय में काम कर सकते हैं लेकिन जीवंत बच्चों से अन्तःक्रिया नहीं। इस तर्क के समर्थन में संबंधित स्कूल के स्टॉफरूम का चित्र पाठकों के सामने रखना चाहता हूं। संबंधित विद्यालय के स्टॉफरूम में शिक्षक आपस में कोई बातचीत नहीं कर रहे थे। अधिकांश अपने-अपने फोन में व्यस्त थे। कुछ नाश्ता कर रहे थे। बीच-बीच में व्यक्तिगत हंसी-मजाक आदि हो रहा था। पुरुष शिक्षक कॉरिडोर और आसपास चहल कदमी कर रहे थे। कुछ अपनी डायरी में न्यूनतम शब्दों में कार्ययोजना लिखकर एक 'काम' पूरा कर रहे थे। इस समय में केवल आपसी बातचीत से कुछ नया करने की योजना बना सकते हैं। अपने बच्चों, विषय और साथी की समस्या का निराकरण कर सकते हैं लेकिन क्यों करें? यह उनकी प्राथमिकता सूची में नहीं है। इसी अध्यापक कक्ष में गांधी, टैगोर और नेहरू का फोटो फ्रेम भी लगा हुआ था। ये सभी बच्चों की क्षमता, सर्जनात्मकता और उनके 'होने' की संभावनाओं की बात करते हैं लेकिन उनके फ्रेम खुद की दशा पर रो रहे थे। गांधी की कर्मभूमि के अनुयायी उनके ही चित्र से धूल हटाने का भी श्रम नहीं करते। हां यह जरूर है कि स्कूल की दीवार पर गांधी दिवस के अवसर पर हुए श्रमदान की तस्वीर चस्पा थी। असल में स्कूल के अधिकांश हितचिंतकों में श्रम के विभाजन और वेतन के रूप में उसका मूल्य चुका देने की आदत घर कर गई है। इसी कारण भवन, कक्षा, उद्यान और खेल का मैदान स्कूल के एक सफाई कर्मियों के हवाले है जो खुद सरकारी कर्मचारी है। इस जैसी समस्याओं के लिए वित्त और अनुदान का रोना एक लोकप्रिय बहाना है। शिक्षक रूपी सर्जक मस्तिष्क क्या इतना विचार नहीं कर सकते कि वे और उनके बच्चे कक्षा को व्यवस्थित रखें? नोटिस बोर्ड को रचानात्मकता की प्रस्तुति का माध्यम बनाएं? यदि इसके लिए 'बड़े और सुंदर' बोर्ड नहीं हैं तो इसका क्या विकल्प नहीं हो सकता? कैसे कक्षा में प्रकाश की समुचित व्यवस्था हो? क्या उद्यान और मैदान का कक्षा-शिक्षण के लिए उपयोग में लाए जा सकते हैं? आजकल हर नवाचार के लिए आई.सी.टी. का नाम ले लेते हैं। यह भूल जाते हैं स्थानीय उपलब्ध संसाधनों से आपसी सहयोग से सस्ते और टिकाऊ नवाचार हो सकते हैं।

इस माहौल में सेवापूर्व अध्यापकों का प्रशिक्षण भी चल रहा था। उनकी फाइलों पर लिखा था- शिक्षण अनुभव कार्यक्रम। विद्यालय की उक्त परिस्थिति और फाइल का शीर्षक भविष्य कथन के लिए पर्याप्त थे। जब उनके अनुभव में ऐसा ही नीरस विद्यालय होगा, वे अपनी भावी भूमिका को इसी विद्यालय के शिक्षकों के सापेक्ष देखेंगे तो उनके लिए भी शिक्षण अनुबंधन बन जाएगा। जब इन सेवापूर्व शिक्षकों से बातचीत की तो विद्यालय के नियमित शिक्षकों जैसे ही वे अपनी तत्परता के कागजी प्रमाण देने को आतुर हो उठे। उनमें यह बताने की प्रवृत्ति थी कि उन्होंने फलां संख्या में पाठ योजना पूरी कर ली है। पाठ्यक्रम में निर्धारित प्रोजेक्ट कर रहे हैं। बीच-बीच में वे स्कूल के बच्चों की 'बदमाशियां' गिनाने से नहीं चूकते। वस्तुतः वे बताना चाहत थे कि ये तथाकथित बदमाशियां ही उनके शिक्षण को बाधित करती है। किसी ने भी स्वाभाविक प्रेरणावश किसी नए अनुभव पर चर्चा नहीं की। खुद के द्वारा किए गए प्रयासों का उल्लेख नहीं किया। हां जब उनसे इनके बारे में पूछा गया तो भविष्य में ऐसा करने का आश्वासन जरूर दिया। इन सेवापूर्व शिक्षकों के सामने दो तरह के मॉडल थे। पहले, वे अध्यापक जो अपनी नौकरी के उत्तरार्द्ध में थे। वे अधिक उदासीन थे क्योंकि उन्हें 'आगे' की राह नहीं दिखाई पड़ रही है। दूसरे, जो अभी सेवा के शुरुआती वर्षों में हैं उनके 'आगे' की राह में वर्तमान कक्षा, विद्यार्थी और स्कूल की भूमिका नहीं है। ये दोनों ही मॉडल स्कूल के साथ

उदासीन और तटस्थ रिश्ता निभा रहे थे। इन मॉडलों के बीच भविष्य के शिक्षकों का 'वर्तमान' बन रहा था। कहने की जरूरत नहीं कि यह वर्तमान कैसा भविष्य गढ़ेगा? यह उदाहरण स्पष्ट करता है कि स्कूल में शिक्षक की भूमिका देखने के लिए उनकी अभिप्रेरणाओं, उद्देश्यों और उनके अपने से भिन्न समुदाय के प्रति नज़रिए को अलग नहीं कर सकते हैं। शिक्षण के व्यवहारवादी या निर्माणवादी तरीके से अधिक महत्वपूर्ण शिक्षकों की वह दृष्टि है जहां वे अपने काम को, दायित्व को, स्कूल को, बच्चे से अपने संबंध को देखते हैं। उनकी यह दृष्टि बच्चों की पृष्ठभूमि में भेद करती है। जरा कल्पना कीजिए यदि इन्हीं विद्यालयों में कुछ प्रभावशाली परिवारों के बच्चे आएँ, उनके अभिभावक स्कूल में हस्तक्षेप करने की हैसियत रखते हों तो भी क्या यह नीरसता और उदासीनता रहती? स्कूल के संचालन के लिए शिक्षकों को अंतिम दायित्व सौंपना भी ठीक नहीं है। हमें यह भी सवाल पूछना होगा कि स्कूल को चलाने वाले, उसके बारे में निर्णय लेने वाले वयस्कों का समूह किसके पक्ष में क्या निर्णय ले रहा है? और क्यों ले रहा है? यदि यह निर्णय चयनात्मक और सुविधाजनक है तो निश्चित रूप से शिक्षा स्वार्थपूर्ति कर रही है। इससे अधिक कुछ भी नहीं।

इस स्कूल के मुख्य भवन के पीछे उग आई जंगली झाड़ियाँ और पीले फूल की लताएँ बच्चों को स्कूल की तुलना में अधिक आकर्षित करती हैं। कई बार लगता है कि बच्चे भी उन्हीं जंगली झाड़ियों और लताओं की तरह अपने जीवन में बढ़ रहे हैं। वे मुख्यधारा की चमक के पीछे हैं। या कह लें कि वे मुख्यधारा के चिराग तले के अंधेरे हैं। उनके जीवन की खुशियाँ हैं अरमान हैं लेकिन वे हमारी शिक्षा, विकास और रोजगार के पैमाने पर कहीं नहीं हैं। इस स्कूल के बच्चे वैसे ही हैं जैसे किसी प्रतिष्ठित निजी स्कूल के बच्चे हो सकते हैं। वे सवाल करते हैं, जवाब देते हैं। दिए गए काम को मन लगाकर करते हैं। पहल करते हैं। लेकिन इसके लिए उन्हें जिस 'स्कैफोल्डिंग' की जरूरत है वह नदारद है। ऐसे आलोचनात्मक स्वर में लिखते हुए मैं एक शिक्षक के रूप में खुद की भूमिका पर विचार करता हूँ तो अपने-आपको कमोबेश इन्हीं शिक्षकों के साथ खड़ा पाता हूँ। कई बार मैं खुद व्यवस्था के नाम पर अपने विद्यार्थियों से कहता हूँ कि 'मैं क्या करूँ?' मुझे लगता है कि मुझे इसके बदले कहना चाहिए कि 'हम' क्या कर सकते हैं? यदि शिक्षक व्यवस्था के सामने घुटने टेकने वाला बन जाएगा तो पूरा समाज पंगु बन जाएगा। दूसरे को कटघरे में खड़ा करने के साथ मैं खुद को भी कटघरे में खड़ा करना चाहता हूँ। मैं अपनी भूमिकाओं में उन्हीं सीमाओं को पहचानता हूँ जिनका उल्लेख मैंने ऊपर किया है। यद्यपि नेतृत्व और प्रशासन महत्वपूर्ण है लेकिन हम सभी शिक्षकों को ध्यान रखना चाहिए कि कक्षा ऐसा स्थान है जहां सुवासित वातायन में नयापन और रोमांच होना चाहिए। इसके लिए हमारे विद्यार्थी ही सबसे बड़े संसाधन हैं। हमारे लिए प्रमोशन, वेतन और पुरस्कार के साथ बच्चों की मुस्कान, उनकी बातचीत से होने वाली संतुष्टि, उन्हें अभिप्रेरित करने का आनंद भी महत्वपूर्ण है।

इस अनुभव और अवलोकन ने कुछ सवाल पैदा किए जो मेरी चेतना को कुरेद रहे हैं। हम लगातार सुनते रहे हैं कि शिक्षकों पर काम का बोझ है। यह छवि निराधार नहीं है लेकिन जिन संस्थानों का मैंने अवलोकन किया वहां जान पड़ा कि काम के बोझ होने और हर काम को बोझ मान लेने में फर्क होता है। काम को बोझ मान लेने की आदत व्यक्तिगत उदासीनता से उपजती है। यह उदासीनता बाह्य कारकों की अपेक्षा आंतरिक अभिप्रेरणा के अभाव को दर्शाती है। अपनी कक्षा को पढ़ाना, वह भी तब जब विद्यार्थी शिक्षक अनुपात अनुकूल हो, से ज्यादा सुखकर क्या हो सकता है। शिक्षा जगत में लगातार पैरवी की जाती है कि नियम, अनुशासन और दायित्व निर्वहन के लिए बाहर की एजेंसी और अधिकारी की भूमिका न्यूनतम होनी चाहिए। इससे किसी की भी असहमति नहीं है। लेकिन इस मांग के साथ व्यवस्था को उत्तरदायी बनाए रखने की शर्त आत्मनुशासन है। जब इसके बिना बाहरी हस्तक्षेप को आप न्यूनतम करते हैं तो व्यवस्था की सरसता और रोमांच वैसे ही समाप्त हो जाता है जैसे इस स्कूल में देखा गया। इसके अलावा आप राज्य को भी मौका देते हैं कि वह आपका नियंत्रण बने। जैसे ही राज्य नियंत्रण बनता है वैसे ही

प्रतिरोध और बचाव के नाम पर खानापूर्ति की प्रवृत्ति जन्म ले लेती है। इसका प्रमाण संबंधित स्कूल हैं। यहां भी शिक्षकों की डायरी है, गतिविधि पंजिका है, स्कूल के प्रति उत्तरदायी सिद्ध करने वाली रिपोर्टें हैं लेकिन उनमें शब्दों और मुहावरों का संकलन मात्र है। ये दस्तावेज विद्यालयी जीवन की समय तालिका बताते हैं लेकिन उस दौरान कैसे जीवन प्रकट हुआ इस पर मौन हैं। क्या इस जीवन का बच्चों और शिक्षकों के 'होने' से कोई संबंध है? ध्यान रखिए शिक्षक का 'होना', विद्यार्थियों के होने से अलग नहीं है। प्रायः होने का सतही अर्थ सत्ता अर्जित करना है। सत्ता पद और पूंजी में निहित है। इसके अलावा सत्ता का एक और रूप है-अपनी पहचान का आभा मंडल बनाना। इसमें शामिल है। आप किन लोगों के साथ उठते-बैठते हैं? आप कितनों को जानते हैं? कितने आपको जानते हैं? इस दृष्टि से भी विद्यालयी व्यवस्था के भागीदार वयस्क चाहे वे शिक्षक हों या कर्मचारी अपने विद्यार्थियों को 'बच्चा' होने के कारण गैर बराबर और महत्वहीन मानते हैं। यदि बच्चों की पृष्ठभूमि और शिक्षक की पृष्ठभूमि में भिन्नता हो तो यह अंतर और गहरा हो जाता है। यह अंतर भी स्कूल की नीरसता में योगदान करता है।

जन शिक्षा या लोक शिक्षा केवल औपचारिकता नहीं है। वह दान नहीं है। वह हम सबका दायित्व है। यह दायित्व इस नाते नहीं है कि हम सरकारी नौकर है बल्कि इसलिए है कि हम अपने समाज के जिम्मेदार नागरिक हैं। हम खुद ऐसे 'व्यक्ति' हैं जो जीवन को सर्जन, रोमांच और अभिप्रेरणा के अर्थ में जीता है न कि 'अर्थ' के आर्थिक अर्थ में। हमने व्यावसायिक संतुष्टि का ऐसा पैमाना खोजा है जो सीढ़ीनुमा है। हम सभी 'प्रोफेशनल' अपने परिवेश से इस अर्थ को ग्रहण करते हैं और व्यवहार में उतार लेते हैं कि इस सीढ़ी पर ऊपर चढ़ते रहना ही नियति है। इसका खामियाजा जिस पायदान पर खड़े हैं उसे उठाना पड़ता है क्योंकि ऊपर की चढ़ाई में नीचे वाला पायदान उपेक्षित रह जाता है। इसी कारण स्कूल में सक्रियता, कक्षा शिक्षण, बच्चों के साथ भागीदारी उपेक्षित है। अपने विषय के साथ प्रयोग, शिक्षण में नवाचार आदि कार्यशाला के मुहावरे मात्र बनते जा रहे हैं। वस्तुतः हम सभी हित चिंतकों की जिम्मेदारी है कि अपनी भूमिका को जीवंत बनाने के लिए स्कूल को अपनाएं। अपनी संकल्पशक्ति, आंतरिक संतुष्टि, आत्मबल, रचने, जानने और करने की इच्छा से व्यवस्था के बंधनों से मुक्ति का रास्ता खोजें। ◆

**लेखक परिचय :** सहायक प्रोफेसर, शिक्षा विभाग, महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा।

**संपर्क :** 7057392903; rishabhrkm@gmail.com